# भगवत्ता : महावीर की दृष्टि में

हमारे जीवन में सत्य का बड़ा महत्त्व है। लेकिन, साधारण बोल-चाल की प्रचलित भाषा पर से यदि हम सत्य का आन्तरिक प्रकाश ग्रहण करना चाहें, तो सत्य का वह महान् प्रकाश हमें नहीं मिलेगा। सत्य का दिव्य प्रकाश प्राप्त करने के लिए तो हमें अपने अन्तरतम की गहराई में दूर तक झाँकना होगा।

आप विचार करेंगे, तो पता चलेगा कि जैन-धर्म ने सत्य के विराट् रूप को स्वीकारते हुए ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में भी एक बहुत बड़ी क्रान्ति की है।

हमारे जो दूसरे साथी हैं, दर्शन हैं, और आसपास जो मत-मतान्तर हैं, उनमें ईश्वर को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वहाँ साधक की सारी साधनाएँ ईश्वर को केन्द्र बनाकर चलती हैं। उनके अनुसार साधना में यदि ईश्वर को स्थान नहीं रहा, तो साधना का जीवन में कोई स्थान नहीं रह जाता। किन्तु, जैन-धर्म ने इस प्रकार एक व्यक्ति रूप में सर्व-सत्ताधीश ईश्वर को साधना का केन्द्र नहीं माना।

**सत्य ही भगवान् है :**

तो फिर प्रश्न यह है कि जैन-धर्म की साधना का केन्द्र क्या है? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् महावीर के शब्दों के अनुसार यह है—

**"तं सच्चं खु भगवं।"**[1]

मनुष्य ईश्वर के रूप में एक अलौकिक दैवी व्यक्ति के चारों ओर घूम रहा था। उसके ध्यान में ईश्वर विश्व का कर्ता-धर्ता-संहरता एक विराट् प्रभु व्यक्ति था और उसी की पूजा एवं उपासना में ही वह अपनी सारी शक्ति और समय व्यय कर रहा था। वह उसी को प्रसन्न करने के लिए कभी गलत और कभी सही रास्ते पर भटका और अन्धे की तरह धक्के खाता फिरा! जिस किसी भी विधि से उसको प्रसन्न करना, उसके जीवन का प्रधान और एकमात्र लक्ष्य था। इस प्रकार हजारों भ्रान्तियाँ साधना के नाम पर मानव-समाज में पैदा हो गई थीं। ऐसी स्थिति में भगवान् महावीर आगे आए और उन्होंने एक ही बात बहुत थोड़े-से शब्दों में कहकर समस्त भ्रान्तियाँ दूर कर दीं। भगवान् कौन है? महाश्रमण भगवान् महावीर ने बतलाया कि वह भगवान् सत्य है। सत्य ही आपका भगवान् है। अतएव जो भी साधना कर सकते हो और करना चाहते हो, सत्य को सामने रख कर ही करो। अर्थात् सत्य होगा, तो साधना होगी, अन्यथा कोई भी साधना सम्भव नहीं है।

**सच्ची उपासना :**

अस्तु, हम देखते हैं कि जब-जब मनुष्य सत्य के आचरण में गहरा उतरा, तो उसने प्रकाश पाया और जब सत्य को छोड़कर केवल ईश्वर की पूजा में लगा और उसी को प्रसन्न करने में प्रयत्नशील हुआ, तो ठोकरें खाता फिरा, भटकता रहा।

आज हजारों मन्दिर हैं, जहाँ ईश्वर के रूप में कल्पित व्यक्ति-विशेष की पूजा की जा रही है, किन्तु वहाँ भगवान् सत्य की उपासना का कोई सम्बन्ध नहीं होता। चाहे

१. प्रश्नव्याकरण सूत्र, २, २.



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोई जैन हो या जैनेतर हो, मूर्ति-पूजा करने वाला हो या न हो, अधिकांशतः वह अपनी शक्ति का उपयोग एकमात्र ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए ही कर रहा है, उसमें वह न न्याय को देखता है, न अन्याय को। हम देखते हैं और कोई भी देख सकता है कि भक्त लोग मन्दिर में जाकर ईश्वर को अशर्फी चढ़ाएँगे और हजारों-लाखों के स्वर्ण-मुकुट पहना देंगे, किन्तु मन्दिर से बाहर आएँगे तो उनकी सारी उदारता न जाने कहाँ गायब हो जाएगी? मन्दिर के बाहर द्वार पर, गरीब लोग पैसे-पैसे के लिए सिर झुकाते हैं, बेहद मिन्नतें और खुशामदें करते हैं, धक्का-मुक्की होती है; परन्तु ईश्वर का वह उदार पुजारी मानो आँखें बन्द करके, नाक-भौंह सिकोड़ता हुआ और उन दरिद्रों पर घृणा एवं तिरस्कार बरसाता हुआ, अपने घर का रास्ता पकड़ता है। इस प्रकार जो पिता है--उसके लिए तो लाखों के मुकुट अर्पण किए जाते हैं, किन्तु उसके लाखों बेटों के लिए, जो पैसे-पैसे के लिए दर-दर भटकते फिरते हैं, कुछ भी नहीं किया जाता। उनके जीवन की समस्या को हल करने के लिए तनिक भी उदारता नहीं दिखलाई जाती।

जन-साधारण के जीवन में यह विसंगति आखिर क्यों है? कहाँ से आई है? आप विचार करेंगे, तो मालूम होगा कि इस विसंगति के मूल में सत्य को स्थान न देना ही है। क्या जैन और क्या जैनेतर, सभी आज बाहर की चीजों में उलझ गए हैं। परिणामस्वरूप पूजा की धूमधाम मचती है, क्रिया-काण्ड का आडम्बर किया जाता है, आराध्य को प्रसन्न करने का प्रयास किया जाता है, कभी भगवान् को, तो कभी गुरुजी को रिझाने की चेष्टाएँ की जाती हैं, और ऐसा करने में हजारों-लाखों की संपत्ति स्वाहा हो जाती है। लेकिन आपका कोई साधारण सजातीय या अन्य जातीय भाई है, वह जीवन के कर्तव्य पथ पर जूझ रहा है, उसे समय पर यदि थोड़ी-सी भी सहायता मिल जाए, तो वह जीवन के लक्ष्य पर पहुँच सकता है और अपना तथा अपने परिवार का यथोचित निर्माण कर सकता है, किन्तु खेद है, उसके लिए आप कुछ भी नहीं करते।

तात्पर्य यह है कि जब तक सत्य को जीवन में नहीं उतारा जाएगा, सही समाधान नहीं मिल सकेगा, जीवन में व्याप्त अनेक असंगतियाँ दूर नहीं की जा सकेंगी और सच्ची धर्म-साधना का फल भी प्राप्त नहीं किया जा सकेगा।

## सत्य का सही मंदिर : अन्तर्मन :

लोग ईश्वर के नाम पर भटकते-फिरते थे और देवी-देवताओं के नाम पर काम करते थे, किन्तु अपने जीवन के लिए कुछ भी नहीं करते थे। भगवान् महावीर ने उन्हें बतलाया कि सत्य ही भगवान् है। भगवान् का यह कथन मनुष्य को अपने ही भीतर सत्य को खोजने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण प्रेरणा थी। सत्य अपने अन्दर ही छिपा है। उसे कहीं बाहर ढूंढ़ने के बजाय भीतर ही खोजना है। जब तक अन्दर का भगवान् नहीं जागेगा और अन्दर के सत्य की झाँकी नहीं होगी, भीतर का देवता तुम्हारे भीतर प्रकाश नहीं फैलाएगा, तब तक तुम तीन काल और तीन लोक में भी, कभी भी, कहीं पर भी, ईश्वर के दर्शन नहीं पा सकोगे।

कोई धनवान है, तो उसको भी बतलाया गया कि साधना अन्दर करो और जिसके पास एक पैसा भी नहीं, चढाने के लिए एक चावल भी नहीं, उससे भी कहा गया कि तुम्हारा भगवान् भीतर ही है। भीतर के उस भगवान् को चढ़ाने के लिए चावल का एक भी दाना नहीं, तो न सही। इसके लिए चिन्तित होने की कोई जरूरत नहीं है। उसे चांदी-सोने की भूख नहीं है। उसे मुकुट और हार पहनने की भी लालसा नहीं है। उसे नैवेद्य की कोई अपेक्षा नहीं है। एकमात्र अपनी सद्भावना के स्वच्छ और सुन्दर सुमन उसे चढाओ और हृदय की सत्यानुभूति से उसकी पूजा करो। यहीं उस देवता की पूजा की सर्वोत्तम सामग्री है, यहीं उसके लिए अनुपम अर्घ्य है। इसी से अन्दर का देवता प्रसन्न होगा। इसके विपरीत यदि बाहर की ओर देखोगे, तो वह तुम्हारा अज्ञान होगा। भीतर देखने पर



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुम्हें आत्मा को परमात्मा के रूप में बदलती हुई शक्ल दिखलाई देगी ! आपके अन्दर के राक्षस—क्रोध, मान माया, लोभ आदि, जो अनादि-काल से अनन्त रूपों में तुम्हें तबाह करते आ रहे हैं, सहसा अन्तर्धान हो जाएँगे। अन्दर का देवता रोशनी देगा, तो अन्धकार में प्रकाश हो जाएगा।

इस प्रकार वास्तव में अन्दर में ही भगवान् मौजूद है। बाहर में देखने पर कुछ भी हाथ नहीं लगने वाला है। एक साधक ने कहा है—

**"ढूंढन चाल्यो ब्रह्म को, ढूंढ फिर्‌यो सब ढूंढ।**
**जो तू चाहे ढूंढनों, इसी ढूंढ में ढूंढ।।"**

तू ब्रह्म को, ईश्वर को ढूँढ़ने के लिए चला है और इस खोज में दुनिया भर की जगह तलाश कर चुका है, इधर-उधर खूब भटकता फिरा है। कभी नदियों के पानी में और कभी पहाड़ों की चोटी पर, ईश्वर की तलाश करता रहा है। किन्तु वह कहाँ है, कुछ पता है, सुना है, सोचा-समझा है ? यदि तुझे ढूँढ़ना है, वास्तव में तलाश करनी है और सत्य की झाँकी अपने जीवन में उतारनी है, तो सबसे बड़ा मन्दिर तेरा शरीर ही है, और उसी में ईश्वर विराजमान है। शरीर में जो आत्मा निवसित है, वही सबसे बड़ा देवता है। यदि उसको तलाश कर लिया, तो फिर अन्यत्र कहीं तलाश करने की आवश्यकता नहीं रह जाती, तुझे अवश्य ही भगवान् के दर्शन हो जाएँगे। संत कबीर ने कितना सही कथन किया है—

**"मन मथुरा, तन द्वारिका, काया काशी जान।**
**दस द्वारे का देहरा, तामें पीव पिछान।।"**

यदि तूने अपने-आपको राक्षस बनाए रखा, हैवान बनाए रखा और ईश्वर को तलाश करने चला, तो तुझे कुछ भी नहीं मिलना है।

संसार बाहर के देवी-देवताओं की उपासना के मार्ग पर चला जा रहा है। उसके सामने भगवान् महावीर की साधना किस रूप में आई ? यदि हम जैन-धर्म के साहित्य का भली-भाँति चिन्तन करेंगे, तो मालूम होगा कि जैनधर्म देवी-देवताओं की ओर जाने के लिए है, या देवताओं को अपनी ओर लाने के लिए है ? वह देवताओं को साधक के चरणों में झुकाने के लिए है, साधक को देवताओं के चरणों में झुकाने के लिए नहीं। सम्यक्-श्रुत के रूप में प्रवाहित हुई भगवान् महावीर की वाणी दशवैकालिक सूत्र के प्रारम्भ में ही बतलाती है—"धर्म अहिंसा है। धर्म संयम है। धर्म तप और त्याग है। यह महामंगल धर्म है। जिसके जीवन में इस धर्म की रोशनी पहुँची, उसके श्रीचरणों में देवता भी प्रणत हो जाते हैं।"[1]

**सत्य का बल :**

इसका अभिप्राय यह हुआ कि श्रमण भगवान् महावीर ने एक बहुत बड़ी बात संसार के सामने रखी है। तुम्हारे पास जो जन-शक्ति है, धन-शक्ति है, समय है और जो भी चन्द साधन-सामग्रियाँ तुम्हें मिली हुई हैं, उन्हें अगर तुम देवताओं के चरणों में अर्पित करने चले हो, तो उन्हें निर्माल्य बना रहे हो। लाखों-करोड़ों रुपए देवी-देवताओं को भेंट करते हो, तो भी जीवन के लिए उनका कोई उपयोग नहीं है। अतएव यदि सचमुच ही तुम्हें ईश्वर की उपासना करनी है, तो तुम्हारे आस-पास की जनता ही ईश्वर के रूप में है। छोटे-छोटे दुधमुँहे बच्चे, असहाय स्त्रियाँ और दूसरे जो दीन और दुःखी प्राणी हैं, वे सब नारायण के स्वरूप हैं, उनकी सेवा और सहायता, ईश्वर की ही आराधना है।

१. "धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो।।"—दशवैकालिक १।१



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः जहाँ जरूरत है, वहाँ इस धन को अर्पण करते चलो। इस रूप में अर्पण करने से तुम्हारा अन्दर में सोया हुआ देवता जाग उठेगा और वह बन्धनों को तोड़ देगा। कोई दूसरा बाहरी देवता तुम्हारे क्रोध, मान, माया, लोभ और वासनाओं के बन्धनों को नहीं तोड़ सकता। वस्तुतः अन्तरंग के बन्धनों को तोड़ने की शक्ति अन्तरंग आत्मा में ही है।

हम अतीत में पुराने इतिहास की ओर और वर्त्तमान में अपने आसपास की घटनाओं को देखते हैं, तो मालूम होता है कि संसार की बड़ी-से-बड़ी प्रत्येक ताकत नीची रह जाती है, समय पर अक्षम और निकम्मी साबित होती है। किसी में रूप-सौन्दर्य है। जहाँ बैठता है हजारों आदमी टकटकी लगाकर उसकी तरफ देखने लगते हैं। नातेदारी में या सभा-सोसायटी में उसे देखकर लोग मुग्ध हो जाते हैं। अपने असाधारण रूप-सौन्दर्य को देखकर वह स्वयं भी बहुत इतराता है। परन्तु, क्या वह रूप सदा रहने वाला है? अचानक ही कोई दुर्घटना हो जाती है, तो वह क्षण-भर में विकृत हो जाता है। सोने-जैसा रूप मिट्टी में मिल जाता है। इस प्रकार रूप का कोई स्थायित्व नहीं है।

इसके बाद, धन का बल आता है, जिस पर मनुष्य को सर्वाधिक गर्व है। वह समझता है कि सोने की शक्ति इतनी प्रचण्ड है कि उसके बल पर वह सभी कुछ कर सकता है। पर वास्तव में देखा जाए, तो धन की शक्ति भी निकम्मी साबित होती है। रावण के पास सोने की कितनी शक्ति थी? जरासंध के पास सोने की क्या कमी थी? दुनिया के लोग बड़े-बड़े सोने के महल खड़े करते आए और संसार को खरीदने का दावा करते रहे; संसार को ही क्या, ईश्वर को भी खरीदने का दावा करते रहे; किन्तु सोने-चाँदी के सिक्कों का वह बल कब तक रहा? उनके जीवन में ही वह समाप्त हो गया। सोने की वह लंका रावण के देखते-देखते ध्वस्त हो गई। धन एक शक्ति है अवश्य, किन्तु उसकी एक सीमा है और उस सीमा के आगे वह काम नहीं आ सकती।

इससे आगे चलिए और जन-बल एवं परिवार-बल पर चिंतन-मनन कीजिए। मालूम होगा कि वह भी एक सीमा तक ही काम आ सकता है। महाभारत पढ़ जाइए और द्रौपदी के उस दृश्य का स्मरण कीजिए, जबकि हजारों वीरों की सभा के बीच द्रौपदी बेसहारा खड़ी है। उसे नंगा किया जा रहा है, उसके गौरव को बर्बाद करने का प्रयत्न किया जाता है, उसकी लज्जा को समाप्त करने की भरसक चेष्टाएँ की जाती हैं। संसार के सबसे बड़े शक्तिशाली वीर पुरुष और नातेदार बैठे हैं; किन्तु सब-के-सब जड़ बन गए हैं और प्रचण्ड बलशाली पाँचों पाण्डव भी नीचा मुँह किए, पत्थर की मूर्ति बने बैठे हैं। उनमें से कोई भी काम नहीं आया। द्रौपदी की लाज किसने बचाई? ऐसा विकट एवं दारुण प्रसंग उपस्थित होने पर मनुष्य को सत्य के सहारे ही खड़ा होना पड़ता है।

मनुष्य दूसरों के प्रति मोह-माया रखता है, और सोचता है कि ये वक्त पर काम आएँगे, परन्तु वास्तव में कोई काम नहीं आता। द्रौपदी के लिए न धन काम आया और न पति के रूप में मिले असाधरण शूरवीर, पृथ्वी को कँपाने वाले पाण्डव ही काम आए। कोई भी उसकी लज्जा बचाने के लिए आगे न बढ़ा। उस समय एकमात्र सत्य का बल ही द्रौपदी की लाज रखने में समर्थ हो सका। यही बात सीता के सम्बन्ध में भी है।

उक्त घटनाओं के प्रकाश में हम देखते हैं कि सत्य का बल कितना महान् है। भारत के दर्शनकारों और चिन्तकों ने कहा है कि सारे संसार के बल एक तरफ हैं और सत्य का बल एक तरफ है।

## निराश्रय का आश्रय : सत्य :

संसार की जितनी भी ताकतें हैं, वे कुछ दूर तक ही साथ देती हैं, किन्तु उससे आगे जवाब दे जाती हैं। उस समय सत्य का ही बल हमारा आश्रिय बनता है, और वही एक मात्र काम आता है।

जब मनुष्य मृत्यु की आखिरी घड़ियों में पहुँच जाता है, तब उसे न धन बचा पाता


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, न ऊँचा पद तथा न परिवार ही। वह रोता रहता है और ये सब-के-सब व्यर्थ सिद्ध हो जाते हैं। किन्तु, कोई-कोई महान् व्यक्ति उस समय भी मुस्कराता हुआ जाता है, रोना नहीं जानता है! अपितु एक विलक्षण स्फूर्ति के साथ संसार से विदा होता है। तो बताएँ उसे कौन रोशनी देता है? संसार के सारे सम्बन्ध टूट रहे हैं, एक कौड़ी भी साथ नहीं जा रही है और शरीर की हड्डी का एक टुकड़ा भी साथ नहीं जा रहा है, बुद्धि-बल भी वहीं समाप्त हो जाता है, फिर भी वह संसार से हँसता हुआ विदा होता है! इससे स्वतः स्पष्ट है कि यहाँ सत्य का अलौकिक बल ही उसे अपराजित बल प्रदान करता है।

## विश्व का विधायक तत्त्व : सत्य :

सत्य धर्म का प्रकाश अगर हमारे जीवन में जगमगा रहा है, तो हम दूसरे की रक्षा करने के लिए अपने अमूल्य जीवन को भेंट देकर और मृत्यु का आलिंगन करके भी संसार से मुस्कराते हुए विदा होते हैं। यह प्रेरणा और यह प्रकाश सत्य धर्म के सिवा और कोई देने वाला नहीं है। सत्य जीवन की समाप्ति के पश्चात् भी प्रेरणा प्रदान करता है। हमारे आचार्यों ने कहा है—

**"सत्येन धार्यते पृथ्वी, सत्येन तपते रविः।**
**सत्येन वाति वायुश्च, सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ।।"**

कहने को तो लोग कुछ भी कह देते हैं। कोई कहते हैं कि जगत् साँप के फन पर टिका है, और किसी की राय में बैल के सींग पर। किन्तु, ये सब कल्पनाएँ हैं। इनमें कोई तथ्य नहीं है। तथ्य तो यह है कि इतना बड़ा विराट् संसार पृथ्वी पर टिका हुआ है। और पृथ्वी अपने-आप में सत्य पर टिकी हुई है।

सूर्य समय पर ही उदित और अस्त होता है और उसी से सम्बन्धित संसार की यह अनोखी काल की घड़ी निरन्तर चलती रहती है। इसकी चाल में जरा भी गड़बड़ हो जाए, तो संसार की सारी व्यवस्थाएँ बिगड़ जाएँ। किन्तु, प्रकृति का यह सत्य नियम है कि सूर्य का उदय और अस्त ठीक समय पर ही होता है।

इसी प्रकार यह वायु भी केवल सत्य के बल पर ही चल रही है। जीवन की जितनी भी साधनाएँ हैं, वे चाहे प्रकृति की हों या चैतन्य की हों, सब की सब अपने आप में अपने-अपने सत्य पर प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार क्या जड़ प्रकृति और क्या चेतन, सभी सत्य पर प्रतिष्ठित हैं। चेतन जब तक अपने चैतन्य शक्ति की सीमा में है, तब तक कोई गड़-बड़ नहीं होने पाती। और, जड़-प्रकृति भी जब तक अपनी सत्य की धुरी पर चल रही है, सब कुछ व्यवस्थित चलता है। जब प्रकृति में तनिक-सा भी व्यतिक्रम होता है, तो भीषण संहार हो जाता है। एक छोटा-सा भूकम्प ही प्रलय की कल्पना को प्रत्यक्ष बना देता है। अतः यह कथन सत्य है कि संसार-भर के नियम और विधान सब सत्य पर ही प्रतिष्ठित हैं।

## सत्य का आध्यात्मिक विश्लेषण :

भगवान महावीर के दर्शन में, सबसे बड़ी क्रान्ति, सत्य के विषय में यह रही है कि वे वाणी के सत्य को तो महत्त्व देते ही हैं, किन्तु उससे भी अधिक महत्त्व मन के सत्य को, विचार या मनन करने के सत्य को देते हैं। जब तक मन में सत्य नहीं आता, मन में पवित्र विचार और संकल्प जागृत नहीं होते और मन सत्य के प्रति आग्रहशील नहीं बनता; बल्कि मन में झूठ, कपट और छल भरा होता है, तब तक वाणी का सत्य, सत्य नहीं माना जा सकता। सत्य की पहली कड़ी मानसिक पावनता है और दूसरी कड़ी है, वचन की पवित्रता।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## सत्य के विघातक तत्त्व :

आज लोगों के जीवन में जो संघर्ष और गड़बड़ दिखाई देती है, चारों ओर जो बेचैनी फैली हुई है, उसके मूल कारण की ओर दृष्टिपात किया जाए, तो यह पता लगेगा कि मन के सत्य का अभाव ही इस विषम परिस्थिति का प्रधान कारण है। जब तक मन के सत्य की भली-भाँति उपासना नहीं की जाती, तब तक घृणा-द्वेष आदि बुराइयाँ, जो आज सर्वत्र अपना अड्डा जमाए बैठी हैं, समाप्त नहीं हो सकतीं।

असत्य भाषण का एक कारण क्रोध है। जब क्रोध उभरता है, तो मनुष्य अपने आपे में नहीं रहता है। क्रोध की आग प्रज्वलित होने पर मनुष्य की शान्ति नष्ट हो जाती है, विवेक भस्म हो जाता है और वह असत्य भाषण करने लग जाता है। आपा भुला देने वाले उस क्रोध की स्थिति में बोला गया असत्य तो असत्य है ही, किन्तु सत्य भी असत्य हो जाता है। अतः सत्य की उपासना के लिए क्षमा की शक्ति अतीव आवश्यक है।

इसी प्रकार जब मन में अभिमान भरा होता है और अहंकार की वाणी चेतना को ठोकरें मार रही होती है, तो ऐसी स्थिति में असत्य, तो असत्य रहता ही है, यदि वाणी से सत्य भी बोल दिया जाए, तो वह भी जैन-धर्म की भाषा में, असत्य ही हो जाता है।

मन में माया है, छल-कपट है, धोखा है, उस स्थिति में अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए मनुष्य कोई अट-पटा-सा शाब्दिक सत्य तैयार कर लेता है, जिसका प्रसंग से भिन्न दूसरा अभिप्राय भी निकाला जा सकता है, तो वह सत्य भी असत्य की श्रेणी में है।

मनुष्य, जब लोभ-लालच में फंस जाता है, वासना के विष से मूर्च्छित हो जाता है, अपने जीवन के महत्त्व को भूल जाता है, जीवन की पवित्रता का उसे स्मरण नहीं रहता है, तब उसे यह विवेक भी नहीं रहता कि वह साधु है या गृहस्थ है? वह नहीं सोच पाता, कि अगर मैं गृहस्थ हूँ, तो एक सद्-गृहस्थ की भूमिका भी संसार को लूटने की नहीं है, संसार में डाका डालने के लिए ही मेरा जन्म नहीं हुआ है। मानव, संसार में लेने-ही-लेने के लिए नहीं जन्मा है, किन्तु उसका जन्म संसार को कुछ देने के लिए भी हुआ है, संसार की सेवा के लिए भी हुआ है। अतः जो कुछ मैंने पाया है, उसमें से जितना मेरा अधिकार है, उतना ही समाज एवं देश का भी अधिकार है। मैं अपने प्राप्त धन को अच्छी तरह संभाल कर रख रहा हूँ और जब देश को, समाज को जरूरत होगी, तो कर्तव्य समझ कर प्रसन्नता से समर्पित कर दूंगा।

मनुष्य की यह उदार मनोवृत्ति उसके मन को विराट् एवं विशाल बना देती है। जिसके मन में उदार भावना रहती है, उसके मन में ईश्वरीय प्रकाश चमकता रहता है और ऐसा सत्य-निष्ठ व्यक्ति, जिस परिवार में रहता है, वह परिवार सुखी एवं समृद्ध रहता है। जिस समाज में ऐसे उदारमना मनुष्य विद्यमान रहते हैं, वह समाज जीता-जागता समाज है। जिस देश में ऐसे मनुष्य जन्म लेते हैं, उस देश की सुख-समृद्धि सदा फूलती-फलती रहती है।

## सत्य का आचरण :

जब तक मनुष्य के मन में उदारता एवं उदात्त भावना बनी रहती है, उसे लोभ नहीं घेरता है। यदि कभी मन में लोभ उत्पन्न होने लगता है, तो उससे टकराता है, जम कर संघर्ष करता है और लोभ के जहर को अन्दर नहीं आने देता है। जब तक मनुष्य सच्चाई के साथ उदारता की पूजा करता है, तभी तक उसकी उदारता सत्य है। निर्लोभता सत्य का महत्त्वपूर्ण रूप है।

सेवा करना भी सत्य का आचरण करना है। मन में निरभिमानता और सेवा की भावना है अर्थात् जब कोई सेवा का आदर्श लिए नम्र सेवक के रूप में पहुँचता है, तो उसकी विनम्रता भी सत्य है। जो जन-सेवा के लिए विनम्र बन कर चल रहा है, वह सत्य का ही आचरण कर रहा है।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार, जो सरलता के मार्ग की ओर जीवन को लगा देता है, जिसका जीवन खुली पुस्तक है, स्पष्ट है कि वह सत्य का महान् उपासक है। चाहे कोई दिन में देख ले या रात में, चाहे कोई एकान्त में परखे या हजार आदमियों में। उसका जीवन सत्य-निष्ठ वह जीवन है, जो अकेले में रह रहा हो, तब भी वही रूप है, वही काम है और हजारों के बीच में रह रहा है, तब भी वही रूप है, वही काम है। श्रमण भगवान् महावीर ने कहा है—"तू कहीं अकेला है और वहाँ कोई तुझे देखने वाला, पहचानने वाला नहीं है, तुझ पर कोई अंगुली उठाने वाला नहीं है, तो तू क्यों सोचता है कि ऐसा या वैसा क्यों न कर लूं, यहाँ कौन देखने बैठा है? सत्य तेरे आचरण के लिए है, तेरे मन में उभरने वाली विकृति को दूर करने के लिए है। अतः तू अकेला बैठा है, तब भी उस सत्य की पूजा कर और हजारों की सभा में बैठा है, तब भी उसी सत्य का अनुसरण कर। यदि लाखों-करोड़ों की संख्या में जनता बैठी है, तो उसे देख कर तुझे अपनी राह नहीं बदलनी है। यह क्या, जनता की आँखें तुझे घूरने लगे, तो तू राह बदल दे? सत्य का मार्ग बदल दे। नहीं, तुझे सत्य की ही ओर चलना है और हर स्थिति में सत्य ही तेरा उपास्य होना है।"[१]

## सत्य की चरम परिणति :

जब मनुष्य सर्वज्ञता की भूमिका पर पहुँचता है, तभी उसका ज्ञान पूर्ण होता है, तभी उसे अनन्त उज्ज्वल प्रकाश मिलता है, तभी उसे परिपूर्ण यथार्थ सत्य का पता लगता है। किन्तु, उससे नीचे की जो भूमिकाएँ हैं, वहाँ क्या होता है? जहाँ तक विचार-शक्ति साथ देती है, साधक को निष्ठा के साथ सत्य का आचरण करना है। फिर भी संभव है, सोचते-सोचते, विचार करते-करते ऐसी धारणाएँ बन जाए, जो सत्य के विपरीत हों। किन्तु, जब कभी यथार्थ सत्य का पता चले और भूल मालूम होने लगे, यह समझ में आ जाए कि यह बात गलत है, तो उसे एक क्षण भी मत रखो, तत्क्षण सत्य को ग्रहण कर लो। गलती को गलती के रूप में स्वीकार कर लो—यह सत्य की दृष्टि है, सम्यक्-दृष्टि की भूमिका है।

## सत्य की भूमिका :

छट्ठे गुणस्थान में सत्य विराट् होकर महाव्रत होता है, किन्तु वहाँ पर भी गलतियाँ और भूलें हो जाती है। पर, गलती या भूल हो जाना एक बात है और उसके लिए आग्रह-दुराग्रह होना दूसरी बात। सम्यक्-दृष्टि भूल करता हुआ भी उसके लिए आग्रहशील नहीं होता, उसका आग्रह तो सत्य के लिए होता है। वह असत्य को असत्य जान कर कदापि आग्रहशील न होगा। जब उसे सत्य का पता लगेगा, तब वह अपनी प्रतिष्ठा को खतरे में डाल कर भी स्पष्ट शब्दों में कहेगा—"पहले मैंने भ्रान्तिवश ऐसा कहा था, इस बात का समर्थन किया था। किन्तु, अब यह सत्य सामने आ गया है, अतः इसे कैसे अस्वीकार करूँ?" इस प्रकार वह तत्क्षण भूल का परित्याग कर, सत्य को स्वीकार करने हेतु उद्यत हो जाएगा। इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ पक्ष-मुक्त सम्यक्-दृष्टि है, वहाँ सत्य है।

जीवन-यात्रा के पथ में कहीं सत्य का और कहीं असत्य का ढेर नहीं लगा होता है कि कोई उसे बटोर कर ले आए। सत्य और असत्य, तो मनुष्य की अपनी दृष्टि में रहता है। इसी बात को श्रुतधर देववाचक आचार्य ने शास्त्रों के सत्यासत्य की चर्चा करते हुए नन्दी सूत्र में कहा है—

---

१. दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा,
सुत्ते वा, जागरमाणे वा।

—दशवैकालिक सूत्र, अध्य० ४



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"एग्राणि मिच्छादिट्ठिस्स, मिच्छत्तपरिग्गहियाइं मिच्छासुयं।
एग्राणि चेव सम्मदिट्ठिस्स, सम्मत्तपरिग्गहियाइं सम्मसुयं।।"

कौन शास्त्र सच्चा है और कौन झूठा है, जब इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार किया गया, तो एक बड़ा सत्य हमारे सामने आया। इस सम्बन्ध में बड़ी गंभीरता के साथ विचार करने की अपेक्षा है।

हम बोल-चाल की भाषा में जिसे सत्य कहते हैं, सिद्धान्त की भाषा में वह कभी असत्य भी हो जाता है और जिसे हम असत्य कहते हैं, वह सत्य बन जाता है। अतः सत्य और असत्य की दृष्टि ही प्रधान वस्तु है। जिसे सत्य की दृष्टि प्राप्त है, वह वास्तव में सत्य का आराधक है। सत्य की दृष्टि कहो या मन का सत्य कहो, एक ही बात है। मन के सत्य के अभाव में वाणी का सत्य मूल्यहीन ही नहीं, वरन् कभी-कभी धूर्तता का रूप भी ले लेता है। अतः जिसे सत्य की सही आराधना करनी है, उसे मन को सत्यमय बनाना होगा, सत्य के विवेक को जागृत करना होगा।

आज तक जो महापुरुष हुए हैं और जिन्होंने मनुष्य को उदात्त प्रेरणाएँ दी हैं, यह न समझिए कि उन्होंने जीवन में बाहर से कहीं कोई प्रेरणाएँ डाली हैं। यह एक दार्शनिक प्रश्न है, मनुष्य में जो प्रेरणा है, जो हमारे भीतर अहिंसा, सत्य, करुणा, दया का रस है और जो अहं के क्षुद्र-दायरे से मुक्त होकर विराट् विश्व में, जगत् में भलाई करने की प्रेरणा है, क्या वह बाहर की वस्तु है? नहीं, वह बाहर की नहीं, मानव के अपने अन्दर का ही परम-तत्त्व है। जो बाहर से डाला जाता है, वह तो बाहर की ही वस्तु होती है। अतः वह विजातीय पदार्थ है। विजातीय पदार्थ कितना ही घुल-मिल जाए, आखिर उस विजातीय का अस्तित्व अलग ही रहने वाला होता है। वह हमारे जीवन का अंग कदापि नहीं बन सकता।

मिश्री डाल देने से पानी मीठा हो जाता है। मिश्री की मीठास पानी में एकमेक हुई-सी मालूम होती है और पीने वाले को आनन्द देती है, किन्तु क्या कभी वह पानी का स्वरूप बन सकती है? आप पानी और मिश्री को अलग नहीं एक रूप समझते हैं, किन्तु वैज्ञानिक बन्धु कहते हैं—मिश्री, मिश्री की जगह है और पानी, पानी की जगह है। दोनों मिल अवश्य गए हैं और एक-रस भी प्रतीत होते हैं। किन्तु, वैज्ञानिक पद्धति एवं प्रक्रिया से विश्लेषण करने से दोनों ही अलग-अलग भी किए जा सकते हैं।

इसी प्रकार अहिंसा, सत्य आदि हमारे जीवन में एक अद्भुत माधुर्य उत्पन्न कर देते हैं, जीवनगत कर्तव्यों के लिए महान् प्रेरणा को जागृत करते हैं और यदि यह सब पानी और मिश्री की तरह विजातीय हैं, मनुष्य की अपनी स्वाभाविकता नहीं हैं, जातिगत विशेषता नहीं हैं, तो वे जीवन का स्वरूप नहीं बन सकते। हमारे जीवन में एक रस-नहीं हो सकते। सम्भव है, कुछ समय के लिए वे एकरूप प्रतीत हों, फिर भी समय पाकर उनका अलग हो जाना अनिवार्य होगा।

निश्चित है कि हमारे जीवन का महत्त्वपूर्ण भाव बाह्य तत्त्वों की मिलावट से नहीं है। एक वस्तु, दूसरी को परिपूर्णता प्रदान नहीं कर सकती। विजातीय वस्तु, किसी भी वस्तु में बोझ बन कर रह सकती है, उसकी असलियत को विकृत कर सकती है, उसमें अशुद्धि उत्पन्न कर सकती है। कथमपि उसे स्वाभाविक विकास और पूर्णता एवं विशुद्धि नहीं दे सकती।

इस सम्बन्ध में जैन-दर्शन ने काफी स्पष्ट चिन्तन किया है। भगवान् महावीर ने बतलाया है कि धर्म के रूप में जो प्रेरणाएँ दी जा रही हैं, उन्हें हम बाहर से नहीं डाल रहे हैं। वे तो मनुष्य की अपनी ही विशेषताएँ हैं, अपना ही स्वभाव है, निज रूप है। हम उनके होने की केवल सूचना मात्र देते हैं।

**"वत्थुसहावो धम्मो"**—वस्तु का अपना स्वभाव ही उसका अपना धर्म होता है।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः धर्म, और कुछ नहीं, आत्मा का ही अपना स्वभाव है। धर्मशास्त्र की वाणी मनुष्य की सुप्त शक्तियों को जगाती है। किसी सोए हुए व्यक्ति को जगाया जाता है, तो यह जगाना बाहर से नहीं डाला जाता। जागने का भाव बाहर पैदा नहीं किया जाता। जागना अन्दर से होता है। शास्त्रीय, दार्शनिक दृष्टि से जगाने के लिए आवाज देने का अर्थ है—सोई हुई चेतना को उद्बुद्ध कर देना। सुप्त-चेतना का उद्बोधन ही जागृति है।

यह जागृति क्या है? कान में डाले गए शब्दों की भाँति जागृति भी क्या बाहर से डाली गई है? नहीं। जागृति बाहर से नहीं डाली गई, जागने की शक्ति तो अन्दर में ही है। जब मनुष्य सोया होता है, तब भी वह छिपे तौर पर उसमें विद्यमान रहती है। स्वप्न में भी मनुष्य के भीतर निरन्तर चेतना दौड़ती रहती है, और सूक्ष्म चेतना के रूप में अपना काम करती रहती है। इस प्रकार जब जागृति सदैव विद्यमान रहती है, तो समझ लेना होगा कि जागने का भाव बाहर से भीतर नहीं डाला गया है। सुषुप्ति भी पर्दे की तरह जागृति को आच्छादित कर लेती है। वह पर्दा हटा कि मनुष्य जाग उठा।

हमारे आचार्यों ने दार्शनिक दृष्टिकोण से कहा है कि मनुष्य अपने-आप में एक प्रेरणा है। मनुष्य की विशेषताएँ अपने-आप में अपना अस्तित्व रखती हैं। शास्त्र का या उपदेश का सहारा लेकर हम जीवन का सन्देश बाहर से प्राप्त नहीं करते, वरन् वासनाओं और दुर्बलताओं के कारण हमारी जो चेतना अन्दर सुप्त है, उसी को जागृत करते हैं।

### मनुष्य की महत्ता का आधार :

मनुष्य की महिमा आखिर किस कारण है? क्या सप्त धातुओं के बने शरीर के कारण है? मिट्टी के इस ढेर के कारण है? नहीं, मनुष्य का शरीर तो हमें कितनी ही बार मिल चुका है और बहुत सुन्दर मिल चुका है, किन्तु मनुष्य का शरीर पाकर भी मानवता का जीवन नहीं पाया, तो क्या पाया? और, जिसने मानव-तन के साथ मानवता को भी पाया, वह यथार्थ में कृतार्थ हो गया।

हम पहली बार ही मनुष्य बने हैं, यह कल्पना करना दार्शनिक दृष्टि से भयंकर भूल है। इससे बढ़कर और कोई भूल नहीं हो सकती। जैन-धर्म ने कहा है कि—आत्मा अनन्त-अनन्त बार मनुष्य बन चुकी है और इससे भी अधिक सुन्दर तन पा चुकी है, किन्तु मनुष्य का तन पा लेने से ही मनुष्य-जीवन के उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती। जब तक आत्मा नहीं जागती है, तब तक मनुष्य-शरीर पा लेने का भी कोई मूल्य नहीं है।

यदि मनुष्य के रूप में तुमने मानवोचित आचरण नहीं किया, तो यह शरीर तो मिट्टी का पुतला ही है! यह कितनी ही बार लिया गया है और कितनी ही बार छोड़ा गया है! भगवान् महावीर ने कहा है—"मनुष्य होना उतनी बड़ी चीज नहीं, बड़ी चीज है, मनुष्यता का होना। मनुष्य होकर जो मनुष्यता प्राप्त करते हैं, उन्हीं का जीवन वरदान-रूप है।"[1] नर का आकार तो अमुक अंश में बन्दरों को भी प्राप्त है। इसीलिए बन्दरों को संस्कृत भाषा में वानर कहते हैं।

हमारे यहाँ एक शब्द आया है—'द्विज'। एक तरफ साधु या व्रतधारक गृहस्थ श्रावक को भी द्विज कहते हैं और दूसरी तरफ पक्षी को भी द्विज कहते हैं। पक्षी पहले अण्डे के रूप में जन्म लेता है। अण्डा प्रायः लुढ़कने के लिए है, टूट-फूट कर नष्ट हो जाने के लिए है। यदि वह नष्ट न हुआ और सुरक्षित भी बना रहा, तब भी वह उड़ नहीं सकता। अंडे के पक्षी में उड़ने की कला का विकास नहीं हुआ है। यदि भाग्य से अण्डा सुरक्षित बना रहता है और अपने विकास का समय पूरा कर लेता है, तब अण्डे का खोल

---

१. चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं॥—उत्तराध्ययन ३।१



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टूटता है और उसे तोड़ कर पक्षी बाहर आता है। इस प्रकार पक्षी का पहला जन्म अण्डे के रूप में होता है, और दूसरा जन्म खोल तोड़ने के बाद पक्षी के रूप में होता है। पक्षी अपने पहले अंडे के जन्म में कोई काम नहीं कर सकता—ऊँची उड़ान नहीं भर सकता। विकसित पक्षी के रूप में दूसरा जन्म प्राप्त करने के पश्चात् ही वह लम्बी और ऊँची उड़ान भरता है।

इसी प्रकार माता के उदर से प्रसूत होना मनुष्य का प्रथम जन्म है। कुछ पुरातन कर्म-संस्कार उसकी आत्मा के साथ थे, उनकी बदौलत उसने मनुष्य का चोला प्राप्त कर लिया। मनुष्य का चोला पा लेने के पश्चात्, वह राम बनेगा या रावण, उस चोले में शैतान जन्म लेगा या मनुष्य अथवा देवता—यह नहीं कहा जा सकता। उसका वह रूप साधारण है, दोनों के जन्म की सम्भावनाएँ उसमें निहित हैं। आगे चलकर जब वह विशिष्ट बोध प्राप्त करता है, चिन्तन और विचार के क्षेत्र में आता है, अपने जीवन का स्वयं निर्माण करता है और अपनी सोई हुई मनुष्यता की चेतना को जगाता है, तब उसका दूसरा जन्म होता है। यही मनुष्य का द्वितीय जन्म है।

जब मनुष्यता जाग उठती है, तो उदात्त कर्तव्यों का महत्त्व सामने आ जाता है, मनुष्य ऊँची उड़ान लता है। ऐसा 'मनुष्य' जिस किसी भी परिवार, समाज या राष्ट्र में जन्म लेता है, वहीं अपने जीवन के पावन सौरभ का प्रसार करता है और जीवन की महत्त्वपूर्ण ऊँचाइयों को प्राप्त करता है।

अगर तुम अपने तन के मनुष्य-जीवन में मनुष्य के निर्मल मन को जगा लोगे, अपने भीतर की पवित्र मानवीय वृत्तियों को विकसित कर लोगे और अपने जीवन के कल्याण-कारी सौरभ को संसार में फैलाना शुरू कर दोगे, तब तुम्हारा दूसरा जन्म होगा। उस समय तुम मानव 'द्विज' बन सकोगे। जीवन का यही एक महान् सन्देश है।

जब भगवान् महावीर का पावापुरी में निर्वाण हो रहा था और हजारों-लाखों लोग उनके दर्शन के लिए चले आ रहे थे, तब उन्होंने अपने अन्तिम प्रवचन में एक बड़ा हृदय-ग्राही, करुणा से परिपूर्ण सन्देश दिया—**"माणुस्सं खु सुदुल्लहं।"**—निस्संदेह, मनुष्य-जीवन बड़ा ही दुर्लभ है।

इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य का शरीर लिए हुए तो लाखों, करोड़ों, अर्बों की संख्या सामने है, सब अपने को मनुष्य समझ रहे हैं, किन्तु केवल मनुष्य-तन पा लेना ही मनुष्य-जीवन को पा लेना नहीं है, वास्तविक मनुष्यता पा लेने पर ही कोई मनुष्य कहला सकता है।

यह जीवन की कला इतनी महत्त्वपूर्ण है कि सारा-का-सारा जीवन ही उसकी प्राप्ति में लग जाता है। मानव का क्षुद्र जीवन ज्यों-ज्यों विशाल और विराट् बनता जाता है और उसमें सत्य, अहिंसा और दया का विकास होता जाता है, त्यों-त्यों अन्दर में सोया हुआ मनुष्य का भाव जागृत होता जाता है। अतएव शास्त्रीय शब्दों में कहा जा सकता है कि मनुष्यत्व के भाव का जागृत होना ही सच्चा मनुष्य होना है।

मनुष्य जीवन में मनुष्यत्व होने की प्रेरणा उत्पन्न करने वाली चार बातें भगवान् महावीर ने बतलाई है। उनमें सर्वप्रथम 'प्रकृतिभद्रता' है। मनुष्य को अपने-आप से प्रश्न करना चाहिए कि तू प्रकृति से भद्र है अथवा नहीं? तेरे मन में या जीवन में कोई अभद्रता की रुग्णता तो नहीं हैं? तू अपने में सहज-भाव से परिवार को और समाज को स्थान देता है या नहीं? आस-पास के लोगों में समरसता लेकर चलता है या नहीं? ऐसा तो नहीं है कि तू अकेला होता है, तो कुछ और करता है, परिवार में रहता है, तो कुछ और ही करता है और समाज में जाकर कुछ और ही करने लगता है? इस प्रकार अपने को तूने कहीं बहुरूपिया तो नहीं बना रखा है?

स्मरण रखें, जहाँ जीवन में एकरूपता नहीं है, वहाँ जीवन का विकास नहीं है। मैं समझता हूँ, अगर आप गृहस्थ हैं, तब भी आपको इस कला की बहुत बड़ी आवश्यकता


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, और यदि साधु बन गए हैं, तब तो उससे भी बड़ी आवश्यकता है। जिसे छोटा-सा परिवार मिला है, उसे भी आवश्यकता है। और, जो बड़ा ऊँचा नेता या पदाधिकारी बना है, जिसके कन्धों पर समाज एवं देश का महान् उत्तरदायित्व है, उसको भी इस कला की आवश्यकता है। जीवन में एक ऐसा सहज-भाव उत्पन्न हो जाना चाहिए कि मनुष्य जहाँ कहीं भी रहे, किसी भी स्थिति में रहे, एकरूप होकर रहे। यही एकरूपता, भद्रता एवं सरलता कहलाती है और यह जीवन के हर पहलू में रहनी चाहिए। सरलता की उत्तम कसौटी यही है कि मनुष्य सुनसान जंगल में जिस भाव से अपने उत्तरदायित्व को पूरा कर रहा है, उसी भाव से वह समाज में भी करे और जिस भाव से समाज में कर रहा है, उसी भाव से एकान्त में भी करे। प्रत्येक मनुष्य को अपना कर्तव्य, कर्तव्य-भाव से, स्वतः ही पूर्ण करना चाहिए। किसी की आँखें हमारी ओर घूर रही हैं या नहीं, यह देखने की उसे आवश्यकता ही क्या है?

भगवान् महावीर का पवित्र सन्देश है कि मनुष्य अपने-आप में सरल बन जाए और द्वैत-भाव अर्थात् मन, वचन, काया की वक्रता न रखे। हर प्रसंग पर दूसरों की आँखों से अपने कर्तव्य को नापने की कोशिश न करे। जो निर्दम्भ, निर्भय हो सहज स्वभाव से काम नहीं कर रहा है और केवल भय से प्रेरित होकर हाथ-पाँव हिला रहा है, वह आतंक में काम कर रहा है, ऐसे काम करने वाले के कार्य में सुन्दरता नहीं पैदा हो सकती, महत्त्वपूर्ण प्रेरणा नहीं जग सकती।

एक महान् उदात्त वचन है—"**यत्र विश्वं भवत्येकनीड़म्।**"—सारा भूमण्डल एक घोंसला है तथा हम सब उसमें पक्षी के रूप में हैं। फिर कौन भूमि है कि जो हमारी न हो, जहाँ हम न जाएँ? समस्त भूमण्डल मनुष्य का वतन है और वह जहाँ कहीं भी जाए या रहे, सब के साथ घुल-मिल कर एकरूप हो कर रहे। उसके लिए कोई पराया न हो। जो इस प्रकार की भावना को अपने जीवन में स्थान देगा, वह अपने जीवन-पुष्प को सौरभमय बनाएगा। गुलाब का फूल टहनी पर है, तब भी महकता है और टूटकर अन्यत्र जाएगा, तब भी महकता रहेगा। महक ही उसका जीवन है, उसका प्राण है।

सहज-भाव से अपने कर्तव्य को निभाने वाला मनुष्य सिर्फ अपने-आपको, अपने कर्तव्य के औचित्य को देखता है। उसकी दृष्टि दूसरों की ओर नहीं जाती। कौन व्यक्ति मेरे सामने है अथवा किस समाज के भीतर मैं हूँ, यह देखकर वह काम नहीं करता। सूने पहाड़ में जब वनगुलाब खिलता है, महकता है, तो क्या उसके विकास को देखने वाला और महक को सूंघने वाला आस-पास में कोई होता है? परन्तु, गुलाब को इसकी कोई परवाह नहीं कि कोई उसे आदर देने वाला है या नहीं, भ्रमर है या नहीं। गुलाब जब विकास की चरम सीमा पर पहुँचता है, तो अपने-आप खिल उठता है। उससे कोई पूछे—तेरा उपयोग करने वाला यहाँ कोई नहीं है, फिर तू क्यों वृथा खिल रहा है? क्यों अपनी महक लुटा रहा है? गुलाब जवाब देगा—कोई है या नहीं, इसकी मुझको चिन्ता नहीं। मेरे भीतर उल्लास आ गया है, विकास आ गया है और मैंने महकना शुरू कर दिया है। यह मेरे बस की बात नहीं है। इसके बिना मेरे जीवन की और कोई गति ही नहीं है। यही तो मेरा जीवन है।

बस, यही भाव मनुष्य में जागृत होना चाहिए। वह सहज भाव से अपना कर्तव्य पूरा करे और इसी में अपने जीवन की सार्थकता समझे।

इसके विपरीत, जब मनुष्य स्वतः समुद्भूत उल्लास के भाव से अपने कर्तव्य और दायित्व को नहीं निभाता, तो चारों ओर से उसे दबाया और कुचला जाता है। इस प्रकार एक तरह की गंदगी और बदबू फैलती है। आज दुर्भाग्य से समाज और देश में सर्वत्र गन्दगी और बदबू ही नजर आ रही है और इसीलिए आज के मनुष्य का जीवन अत्यन्त पामर जीवन बना रहता है।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## सत्य की अन्तर् में अनुभूति ही सच्ची अनुभूति :

भारतीय-धर्म और दर्शन मानव-जीवन के लिए एक महत्त्वपूर्ण सन्देश लेकर आया है कि मानव, तू अन्दर में क्या है? तू अन्तरतम में विराजमान महाप्रभु के प्रति सच्चा है, या नहीं। वहाँ सच्चा है, तो संसार के प्रति भी सच्चा है और यदि वहाँ सच्चा नहीं, तो संसार के प्रति भी सच्चा नहीं है। अन्तःप्रेरणा और अन्तःस्फूर्ति से, बिना दबाव या भय के, जब अपना कर्तव्य निभाया जाएगा, तो जीवन एकरूप होकर कल्याणमय बन जाएगा।

दूसरी बात है—मनुष्य के हृदय में दया और करुणा की लहर पैदा होना। हमारे भीतर, हृदय के रूप में, माँस का एक टुकड़ा है। निस्सन्देह, वह माँस का टुकड़ा ही है और माँस के पिण्ड के रूप में ही हरकत कर रहा है। हमें जिन्दा रखने के लिए साँस छोड़ रहा है और ले रहा है। पर उस हृदय का मूल्य अपने-आप में कुछ नहीं है। जिस हृदय में महान् करुणा की दिव्य लहर पैदा नहीं होती, उस हृदय की कोई कीमत नहीं है।

जब हमारे जीवन में समग्र विश्व के प्रति दया और करुणा का भाव जागृत होगा, तभी प्रकृति-भद्रता उत्पन्न हो सकेगी। तभी हमारा जीवन भगवत्-स्वरूप हो सकेगा। प्रकृति-भद्रता अर्थात् दम्भ-मुक्त सत्य, सत्य का ही व्यक्त रूप है।

## सत्य का विराट् रूप :

इस प्रकार समग्र समाज के प्रति सच्चाई के साथ कर्तव्य-बुद्धि उत्पन्न हो जाना, विश्व-चेतना का विकास हो जाना सत्य का विकास है और उसी सत्य को जैन-धर्म ने भगवान् के रूप में अभिहित किया है। यही मानव की भगवत्ता है, प्रकृति धर्म है।

धर्म का मूल रूप सत्य है। सत्य, मानवता है और यह मानवता ज्यों-ज्यों विराट् रूप ग्रहण करती जाती है, त्यों-त्यों उसका सत् भगवान् भी विराट् बनता चला जाता है। इस विराट्ता में जैन, वैदिक, बौद्ध, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई आदि का कोई भेद नहीं रहता। यही सत्य का स्वरूप है, और इसकी उपलब्धि मानव की विराट् चेतना में ही होती है।

●


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org